॥श्रीहरिः॥

860

# मुक्तिमें सबका अधिकार

स्वामी रामसुखदास

॥श्रीहरिः॥

# मुक्तिमें सबका अधिकार

(१)

मुक्ति अथवा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें खास बाधक है—अहंकार। जड़ प्रकृतिके कार्य शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेसे अहंकार अर्थात् देहाभिमान उत्पन्न होता है, अहंकारसे एकदेशीयता उत्पन्न होती है तथा एकदेशीयतासे फिर वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिको लेकर सैकड़ों-हजारों भेद उत्पन्न होते हैं; जैसे—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, आदि-आदि। तात्पर्य है कि सब भेद अहंकारसे ही पैदा होते हैं। जबतक अहंकार रहता है, तबतक भेदका नाश नहीं होता। जहाँ भेद है, वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ ज्ञान है, वहाँ भेद नहीं है। अतः मुक्ति अथवा

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति अहंकार मिटनेसे ही होती है। इसलिये गीतामें जहाँ ज्ञानप्राप्तिके साधनोंका वर्णन आया है, वहाँ (साधनमें भी) अहंकारसे रहित होनेकी बात कही गयी है—'**अनहंकार एव च**' (१३। ८)। कारण कि ज्ञानप्राप्तिमें देहाभिमान मुख्य बाधा है—

**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥**

(गीता १२। ५)

'देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्त-विषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है।'

**संसृत मूल सूलप्रद नाना।**
**सकल सोक दायक अभिमाना॥**

(मानस ७। ७४। ३)

अतः जो कहता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं संन्यासी हूँ' और जो कहता है कि 'मैं अन्त्यज हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ' उन दोनोंके

देहाभिमानमें क्या फर्क हुआ? देहाभिमानकी दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। देहका अध्यास ही ब्राह्मण, संन्यासी आदि है और देहका अध्यास ही अन्त्यज, गृहस्थ आदि है। वास्तवमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न ब्राह्मणको होती है, न क्षत्रियको होती है, न वैश्यको होती है, न शूद्रको होती है, न ब्रह्मचारीको होती है, न गृहस्थको होती है, न वानप्रस्थको होती है, न संन्यासीको होती है, प्रत्युत जिज्ञासुको होती है। तात्पर्य है कि जो तीव्र जिज्ञासु होता है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नहीं होता—

**नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ**
**न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः।**
**न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो**
**भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥**

(हस्तामलकस्तोत्र)

संतो, अब हम आपा चीन्हा।
निज स्वरूप प्राप्त है नित ही, अचरज सहित स कीन्हा॥
ना हम मानुष देवता नाहीं, ना गिरही वनखण्डी।
ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यहु नाहीं, ना हम शूद्र न दण्डी॥
ना हम ज्ञानी चतुर न मूरख, ना हम पण्डित पोथी।
ना हम सागर न मरजीवा, ना हम सीप न मोती॥
ना हम स्वर्गलोक को जाते, ना हम नरक सिधारे।
हम सब रूप सबन ते न्यारा, ना जीता ना हारे॥
ना हम अमर मरे ना कबहूँ, कबीर ज्यों-का-त्यों ही।
व्यास कपिल मुनि वामदेव ऋषि, सबका अनुभव यों ही॥

अत: जिज्ञासुमें न तो वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका अभिमान होना चाहिये, न इनका आग्रह होना चाहिये और न दूसरे वर्ण, आश्रम आदिके प्रति ऊँच-नीचका भाव ही होना चाहिये। वर्ण, आश्रम आदिका भेद मनुष्योंकी मर्यादाके लिये है, और मर्यादा संसारके संचालनके

लिये है। परंतु मुक्तिके लिये वर्ण, आश्रम आदिका भेद आवश्यक नहीं है। कारण कि मुक्ति शरीरकी नहीं होती, प्रत्युत स्वयंकी होती है, जो कि मुक्तस्वरूप ही है। वर्ण-आश्रमका भेद शरीरको लेकर है। जब शरीर अपना स्वरूप है ही नहीं तो फिर वर्ण-आश्रमका भेद अपना स्वरूप कैसे?

**तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद।**
**आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना॥**

(नारदपरिव्राजक० ६। १४)

'नारद! सभी वर्ण और आश्रम अन्यगत (शरीरगत) होनेपर भी भ्रान्तिवश आत्मामें आरोपित कर लिये जाते हैं; परंतु आत्मवेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करते।'

इसलिये मुक्ति होनेपर स्वयंका शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, शरीरका संसारसे

सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता अर्थात् स्वयं शरीरसे असंग (अलग) होता है, शरीर संसारसे असंग नहीं होता। कारण कि प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरका सम्बन्ध संसारसे है, स्वयंसे नहीं।

वर्ण-आश्रमकी मान्यता केवल स्वाँगके लिये है। हमारा स्वरूप ब्राह्मण आदि नहीं है। जैसे नाटकमें लक्ष्मण बना हुआ व्यक्ति बाहरसे अपने स्वाँगका ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरसे अपनेको लक्ष्मण नहीं मानता। उसके भीतर निरन्तर यह भाव रहता है कि यह तो स्वाँग है, वास्तवमें मैं लक्ष्मण हूँ ही नहीं। ऐसे ही बाहरसे अपने वर्ण-आश्रमका शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुसार ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरमें यह भाव रहना

चाहिये कि मैं तो भगवान्‌का अंश हूँ!

जो जिस वर्ण-आश्रमका हो, उस वर्ण-आश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका ठीक तरहसे पालन करे और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करे तो उसकी अहंता सुगमतापूर्वक छूट जायगी। अगर वह विहितके साथ-साथ निषिद्ध काम भी करता रहेगा तो उसकी अहंता छूटेगी नहीं। निषिद्धके त्यागपर इतना जोर रहना चाहिये कि भूलसे भी मन उस तरफ न जाय। जैसे, राजा दुष्यन्तका मन शकुन्तलाकी तरफ चला गया तो उनको दृढ़ विश्वास हो गया कि यह ब्राह्मण-कन्या नहीं है, प्रत्युत क्षत्रिय-कन्या ही है। कारण कि अगर यह ब्राह्मण-कन्या होती तो मेरा मन उसकी तरफ जाता ही नहीं!

**असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा**
**यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।**

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

(अभिज्ञान० १। २१)

'इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षत्रियद्वारा ग्रहण करनेयोग्य है, जिससे मेरा विशुद्ध मन भी इसको चाहता है; क्योंकि जहाँ सन्देह हो, वहाँ सत्पुरुषोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है'

यही बात भगवान् रामके विषयमें भी आती है। उनका मन सीताजीकी तरफ गया तो वे समझ गये कि यह परनारी नहीं है; क्योंकि मेरा सम्बन्ध इसीके साथ होना है—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

(मानस १। २३१। ३)

जो अपनेको किसी एक वर्ण और आश्रमका मानते हैं, वे शास्त्रीय विधि-निषेधके अधिकारी होते हैं। यदि वे निषिद्धका त्याग करके विहित (अपने कर्तव्य) का पालन करें तो उनकी उन्नति अवश्य होगी। यदि वे निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करें और अपनी अहंताको बदल दें कि मैं किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ, प्रत्युत केवल योगी, जिज्ञासु अथवा भक्त हूँ तो वे मुक्तिके अधिकारी हो जायँगे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंकी रचना प्रकृतिजन्य गुणोंके अनुसार होती है; जैसे—सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मणकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रियकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा तमोगुणकी गौणतासे वैश्यकी और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी रचना की गयी है। जिसमें ब्राह्मणत्वका अभिमान और

आग्रह है, उसकी स्थिति गुणोंमें होनेसे गुणोंके अनुसार ही उसकी ऊँच-नीच गति होगी, पर मुक्ति नहीं होगी—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंके अभिमानवाला गुणातीत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। गुणातीत होनेपर वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह नहीं रह सकता। अत: अपने वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह छोड़कर बाहरसे वर्ण-आश्रमकी मर्यादाका पालन करना और भीतरसे 'मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ, किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ'—ऐसा भाव रखना बहुत आवश्यक है।

जब साधकका उद्देश्य एकमात्र परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब वह अपनेको केवल योगी, केवल जिज्ञासु अथवा केवल भक्त मानता है। ऐसा माननेसे ही वह सच्चा

साधक होता है और उसके द्वारा निरन्तर साधन होता है। अगर वह अपनेको साधक माननेके साथ-साथ 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ' आदि भी मानेगा तो उसके साधनमें अदृढ़ता (कमी) रहेगी, जो कि उसके कल्याणमें बाधक होगी। उसको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तल्लीन हो जाय कि साधक न रहे, साधनमात्र रह जाय अर्थात् योगी न रहे, योगमात्र रह जाय; जिज्ञासु न रहे, जिज्ञासामात्र रह जाय; भक्त न रहे, भक्तिमात्र रह जाय। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यसे एक हो जाता है अर्थात् साध्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

शास्त्रमें ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वर्ण और

आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है; जैसे—

**तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं**
**सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।**
**तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो**
**यस्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र॥**

(महा० शान्ति० ३१८। ९२)

'नरेन्द्र! सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः ब्राह्मण हो अथवा दूसरे किसी वर्णका हो, जो मनुष्य ज्ञानमें स्थित है, उसके लिये मोक्ष नित्य प्राप्त है।'

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**

(गीता १८। ४५)

'अपने-अपने कर्ममें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त कर लेता है।'

**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**

(गीता १८। ४६)

'उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य है कि जिस पदको ब्राह्मण अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त करता है, उसी पदको शूद्र भी अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, तीव्र जिज्ञासा होनेपर पापी-से-पापी मनुष्यको भी तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है—

**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।**
**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥**

(गीता ४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा नि:सन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

भगवद्भक्तिके तो मात्र मनुष्य अधिकारी हैं—

**आनिन्द्योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।**

(शाण्डिल्य० ७८)

'जैसे दया, क्षमा आदि सामान्य धर्मोंके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तिके नीची-से-नीची योनिसे लेकर ऊँची-से-ऊँची योनितक सब प्राणी अधिकारी हैं।'

**नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः।**

(नारद० ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।**
**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥**

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

(गीता ९। ३२-३३)

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों, तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय भगवान्‌के भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!'

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २। ४। १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक,

यवन, खस आदि अधम जातिके लोग और इनके सिवाय अन्य पापीलोग भी शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस ३। ३५। ३)

**व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का**
**का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।**
**कुब्जायाः किमु नामरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं**
**भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥**

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम

था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी! कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है। वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

**नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।**
**प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥**
**न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।**
**प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥**
**दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।**
**खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः।**

(श्रीमद्भा० ७। ७। ५१-५२, ५४)

'दैत्यबालको! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये केवल ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा

दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बनामात्र है! भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, गोपालक, अहीर, पक्षी, मृग और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो गये हैं।'

इतना ही नहीं, पापी-से-पापी मनुष्य भी भक्तिका अधिकारी हो सकता है—

**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**
**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**
**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥**

(गीता ९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य-

भावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत श्रेष्ठ और अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रमें भगवान्‌की तरफ चलनेका, भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार, स्वतन्त्रता और सामर्थ्य स्वतः है। प्रत्येक जीव स्वरूपसे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है—**'अयमात्मा ब्रह्म'**, **'तत्त्वमसि'**। अतः जीवमात्र स्वरूप-बोधमें अधिकारी, स्वतन्त्र और समर्थ है।

वर्ण, आश्रम आदिको लेकर ऐसा मानना कि अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी है और अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं है—यह शास्त्र और युक्ति-संगत नहीं दीखता। उत्थान और पतन प्रत्येक वर्ण-आश्रममें हो सकता है। प्रत्येक वर्ण-आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, वह तत्त्वज्ञान देनेका अधिकारी भी हो सकता है—

**प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा**
**वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।**
**श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं**
**न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥**

(महा० शान्ति० ३१८। ८८)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए मनुष्यसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके मनुष्यको सदा उसपर

श्रद्धा रखनी चाहिये। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता।'

उदाहरणार्थ, वेदव्यासजीके पुत्र शुकदेवजी ज्ञान-प्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये एक साथ छः ऋषि महाराज अश्वपतिके पास गये थे। इस प्रसंगमें शंकराचार्यजी महाराजके ये वचन ध्यान देनेयोग्य हैं—

**'यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्भारहस्ता जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनो विनयेनोपजग्मुः'** (छान्दोग्य० ५। ११। ७ का भाष्य)।

'इस प्रकार महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होनेपर भी वे महागृहस्थत्व आदिके अभिमानको छोड़कर, हाथोंमें समिधाएँ लेकर

तथा विद्यार्थी बनकर अपनेसे हीन जातिवाले राजाके पास विनयपूर्वक गये थे। इसलिये ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेकी इच्छावाले अन्य पुरुषोंको भी ऐसा ही होना चाहिये।'

नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी विदुर, कबीर, रैदास, सदन, कसाई, धर्मव्याध आदि अनेक महापुरुष जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी माने जाते हैं और ऊँच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी रावण आदि अनेक पापी हो गये हैं। गार्गी, देवहूति, शबरी, कुन्ती, व्रजगोपियाँ, मीराबाई आदि स्त्री-जातिकी थीं। समाधि, तुलाधार, आदि वैश्य थे। विदुर, सञ्जय, निषादराज गुह आदि शूद्र थे। प्रह्लाद, विभीषण आदि असुर तथा वृत्रासुर आदि राक्षस थे। गजेन्द्र, जटायु, कपोत-कपोती आदि पशु-पक्षी थे। इन सबमें जो भी विलक्षणता, विशेषता थी, वह किसी

वर्ण, आश्रम आदिको लेकर नहीं थी, प्रत्युत भगवान्‌के सम्बन्धको लेकर थी*। भगवान्‌का सम्बन्ध स्वरूपके साथ है, शरीरके साथ

* सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगा: खगा:।
गन्धर्वाप्सरसो नागा: सिद्धाश्चारणगुह्यका:॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्या: शूद्रा: स्त्रियोऽन्त्यजा:।
रजस्तम:प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादय:।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषण:॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथ:।
व्याध: कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमा:।
अव्रतातप्ततपस: सत्सङ्गान्मामुपागता:॥
(श्रीमद्भा० ११। १२। ३—७)

भगवान् बोले—'हे निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्संग (मेरे सम्बन्ध) के द्वारा दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-

नहीं। ऊँचे वर्ण-आश्रमवाला मनुष्य भी अगर भगवान्‌से विमुख है, उसके भाव और आचरण शुद्ध नहीं हैं, तो उसका महान् पतन हो सकता है; जैसे—

**यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम्।**
**षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥**

(वायुपुराण)

---

तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संगके प्रभावसे मुझे प्राप्त हुए हैं। उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत तथा कोई तपस्या भी नहीं की थीं। बस, केवल सत्संग, अर्थात् मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

'जो संन्यास-आश्रममें जानेके बाद पुन: स्त्रीसंग करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।'

एक नीतिशास्त्र होता है, एक धर्म-शास्त्र होता है और एक मोक्षशास्त्र होता है। नीतिशास्त्रमें स्वार्थसिद्धि है, धर्मशास्त्रमें विधि-निषेध है और मोक्षशास्त्रमें सत्-असत्का विवेक है। नीतिसे धर्म और धर्मसे मोक्षशास्त्र बलवान् होता है। वर्ण-आश्रमकी व्यवस्था धर्मशास्त्रमें है, मोक्षशास्त्रमें नहीं। वर्ण, आश्रम आदि सब भेद असत्के हैं। सत्का कोई भेद नहीं है—'**नेह नानास्ति किञ्चन**' (कठ० २। १। ११, बृहदा० ४। ४। १९), '**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १)। जहाँ सत्-असत्का विवेक होगा, वहाँ तो असत्का त्याग ही मुख्य

रहेगा*। अत: चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे शूद्रका शरीर हो, लोक-व्यवहारमें तो उनमें फर्क रहेगा, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कोई फर्क रहेगा ही नहीं। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर होती है। जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, वह चाहे बढ़िया हो या घटिया, उससे क्या मतलब?

कर्मोंके अनुसार जीव नीच योनिसे क्रमश: शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण भी बन सकता है और क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा नीच योनिमें भी जा सकता है। ऊँच-नीचका

* सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस ७। ४१)

'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित:॥'

(श्रीमद्भा० ११। १९। ४५)

यह क्रम (गति) कर्मानुसार फलभोगके लिये ही है। मुक्तिमें ऐसा कोई क्रम नहीं है। अत: शास्त्रमें कहीं किसी एक वर्ण-आश्रमको प्राप्त होकर मुक्तिका अधिकारी होनेकी बात आयी है तो वह कोई सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत वह व्यक्ति-विशेषके लिये ही कही गयी बात है। इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि किसने किस परिस्थितिमें किया और क्यों किया तथा किस परिस्थितिमें कुछ कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता चलता नहीं! अत: इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्ग-दर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय विधि-निषेधसे ही होता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है। अत: यों करें अथवा यों करें—इस विषयमें इतिहासको प्रमाण न मानकर शास्त्रके विधि-

निषेधको ही प्रमाण मानना चाहिये।

कलियुगमें ठीक विधि-विधानसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ-आश्रमका पालन करके संन्यास-आश्रममें जाना तथा संन्यास-आश्रमके नियमोंका पालन करना बहुत कठिन है। इसलिये शास्त्रमें संन्यासको कलिवर्ज्य (कलियुगमें वर्जित) माना गया है*। अगर ऐसा मानें कि संन्यासी हुए बिना मनुष्य कल्याण-(मोक्ष) का अधिकारी नहीं हो सकता तो फिर कलियुगमें किसीका कल्याण होगा ही नहीं, जब कि कलियुगमें अन्य युगोंकी अपेक्षा कल्याण होना बहुत सुगम बताया गया है!†

---

* अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण ११५। ११२-११३)

† यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
(विष्णुपुराण ६। २। १५)

विष्णुपुराणमें एक कथा आती है। एक बार अनेक ऋषि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये वेदव्यासजी महाराजके पास गये। वेदव्यासजीने आदर-सत्कारपूर्वक उन सबको बैठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये। स्नान करते हुए उन्होंने कहा कि 'कलियुग, तुम धन्य हो! शूद्रो, तुम धन्य हो! स्त्रियो, तुम धन्य हो!'* जब वे स्नान करके वापिस आये, तब ऋषियोंने

---

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
(मानस ७। १०३ क)

* मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रस्साधुः कलिस्साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
तेषां मुनीनां भूयश्च ममज्ज स नदीजले।
साधु साध्विति चोत्थाय शूद्र धन्योऽसि चाब्रवीत्॥

उनसे कहा कि महाराज! आपने कलियुगको, शूद्रोंको और स्त्रियोंको धन्यवाद क्यों दिया?—यह हमारी समझमें नहीं आया! वेदव्यासजीने कहा कि कलियुगमें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे शूद्रों और स्त्रियोंका कल्याण जल्दी और सुगमतासे हो जाता है, इसलिये ये तीनों धन्यवादके पात्र हैं।

जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये धर्म-पालन भी उतना ही कठिन होता है और नीचे गिरनेपर चोट भी उतनी ही अधिक लगती है! ऊँचा कहलानेके कारण देहाभिमान भी अधिक होता है; अतः कल्याण भी कठिनतासे होता है—

---

निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥
(विष्णुपुराण ६। २। ६—८)

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जातिके अभिमान से, डूबे सभी कुलीन॥
जात नहीं जगदीश के, जन के कैसे होय।
जात पाँत कुल कीच में, बंध मरो मत कोय॥

तात्पर्य यह हुआ कि लौकिक व्यवहार-(भोजन, विवाह आदि) में तो जातिकी, वर्ण-आश्रमकी ही प्रधानता है, पर भगवत्प्राप्तिमें भाव और विवेककी प्रधानता है। अत: ऊँचे वर्ण, आश्रम आदिसे संसारमें अधिकार मिल सकता है, पर भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार केवल भगवान्‌के सम्बन्धसे ही मिलता है। जैसे सब-के-सब बालक माँकी गोदीमें जानेके समान अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे सब-के-सब जीव भगवान्‌को प्राप्त होनेके समान अधिकारी हैं। जीवमात्रका भगवान्‌पर पूरा अधिकार है। अत: भगवत्प्राप्तिके लिये

किसी भी मनुष्यको कभी निराश नहीं होना चाहिये। सब-के-सब मनुष्य परमात्मतत्त्वको, मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, कैवल्यको, भगवत्प्रेमको, भगवद्दर्शनको* प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ 'वज्रसूची' नामक उपनिषद् दी जा रही है। मुक्तिक-उपनिषद्में जहाँ एक सौ आठ उपनिषदोंके नाम दिये गये हैं, वहाँ इस उपनिषद्का भी नाम आया है।†

## वज्रसूचिकोपनिषद्

### शान्तिपाठ

'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः

---

* भगवान्को अपना माननेका सबको अधिकार है। अनन्यभावसे भगवान्को अपना माननेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है।

† ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः।
गर्भो नारायणो हंसो बिन्दुर्नादशिरः शिखा॥

मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम्।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम्॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम्।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम्॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम्।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम्॥
त्रिपुरातपनं देवी त्रिपुरा कठभावना।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षागणदर्शनम्॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम्।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका॥
एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम्।
ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम्॥

(मुक्तिकोपनिषद्)

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हे परब्रह्म परमात्मन्! मेरे सम्पूर्ण अंग,

---

१. 'ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डूक्य, ७. तैत्तिरीय ८.ऐतरेय, ९. छान्दोग्य, १०. बृहदारण्यक, ११. ब्रह्म, १२. कैवल्य, १३. जाबाल, १४. श्वेताश्वतर, १५. हंस, १६. आरुणिक, १७. गर्भ, १८. नारायण, १९. परमहंस, २०. अमृतबिन्दु, २१. अमृतनाद, २२. अथर्वशिरस्, २३. अथर्वशिखा, २४. मैत्रायणी, २५. कौषीतकिब्राह्मण, २६. बृहज्जाबाल, २७. नृसिंहतापनीय, २८. कालाग्निरुद्र, २९. मैत्रेयी, ३०. सुबाल, ३१. क्षुरिका, ३२. मन्त्रिका, ३३. सर्वसार, ३४. निरालम्ब, ३५. शुकरहस्य, ३६. वज्रसूचिका, ३७. तेजोबिन्दु, ३८. नादबिन्दु, ३९. ध्यानबिन्दु, ४०. ब्रह्मविद्या, ४१. योगतत्त्व, ४२. आत्मप्रबोध, ४३. नारदपरिव्राजक, ४४. त्रिशिखिब्राह्मण, ४५. सीता, ४६. योगचूडामणि, ४७. निर्वाण, ४८. मण्डलब्राह्मण, ४९. दक्षिणामूर्ति, ५०. शरभ, ५१. स्कन्द,

वाणी, प्राण, नेत्र, कान और सब इन्द्रियाँ तथा

५२. त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, ५३. अद्वयतारक, ५४. रामरहस्य, ५५. रामतापनीय, ५६. वासुदेव, ५७. मुद्गल, ५८. शाण्डिल्य, ५९. पैंगल, ६०. भिक्षुक, ६१. महत्, ६२. शारीरक, ६३. योगशिखा, ६४. तुरीयातीत, ६५. संन्यास, ६६. परमहंसपरिव्राजक, ६७. अक्षमाला, ६८. अव्यक्त, ६९. एकाक्षर, ७०. अन्नपूर्णा, ७१. सूर्य, ७२. अक्षि, ७३. अध्यात्म, ७४. कुण्डिका, ७५. सावित्री, ७६. आत्मा, ७७. पाशुपत, ७८. परब्रह्म, ७९. अवधूत, ८०. त्रिपुरातापनीय, ८१. देवी, ८२. त्रिपुरा, ८३. कठरुद्र, ८४. भावना, ८५. रुद्रहृदय, ८६. योगकुण्डली, ८७. भस्मजाबाल, ८८. रुद्राक्षजाबाल, ८९. गणपति, ९०. जाबालदर्शन, ९१. तारसार, ९२. महावाक्य, ९३. पञ्चब्रह्म, ९४. प्राणाग्निहोत्र, ९५. गोपालतापनीय, ९६. कृष्ण, ९७. याज्ञवल्क्य, ९८. वराह, ९९. शाट्यायनीय, १००. हयग्रीव, १०१. दत्तात्रेय, १०२. गरुड़, १०३. कलिसंतरण, १०४. जाबालि, १०५. सौभाग्यलक्ष्मी, १०६. सरस्वतीरहस्य, १०७. बह्वृच, १०८. मुक्तिकोपनिषद्—ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्यके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश करती हैं। इनके पाठ और स्वाध्यायसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है तथा लोकवासना, शास्त्रवासना एवं देहवासनारूप त्रिविध वासनाओंका नाश होता है।

शक्ति परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्-प्रतिपादित ब्रह्म है, उसको मैं अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म मेरा परित्याग न करे। उसके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध हो और मेरे साथ उसका अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदोंमें प्रतिपादित जो धर्मसमूह हैं, वे सब उस परमात्मामें लगे हुए मुझमें हों, वे सब मुझमें हों। हे परमात्मन्! त्रिविध तापोंकी शान्ति हो।'

**चित्सदानन्दरूपाय सर्वधीवृत्तिसाक्षिणे।**
**नमो वेदान्तवेद्याय ब्रह्मणेऽनन्तरूपिणे॥**

'सच्चिदानन्दस्वरूप, सबकी बुद्धिका साक्षी, वेदान्तके द्वारा जाननेयोग्य और अनन्त रूपोंवाले ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ।'

**ॐ वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।**
**दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम्॥**

'अब मैं अज्ञानका नाश करनेवाला 'वज्रसूची'

नामक शास्त्र कहता हूँ, जो अज्ञानियोंके लिये दूषणरूप और ज्ञानचक्षुवालोंके लिये भूषणरूप है।'

**ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति॥**

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। उन वर्णोंमें ब्राह्मण मुख्य है, ऐसा वेदोंमें तथा स्मृतियोंमें भी कहा गया है। उस विषयमें यह शंका उत्पन्न होती है कि ब्राह्मण नाम किसका है? क्या जीव ब्राह्मण है? क्या देह ब्राह्मण है? क्या जाति ब्राह्मण है? क्या ज्ञान ब्राह्मण है? क्या कर्म ब्राह्मण है? अथवा क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है?'

**तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न।**

अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वादेकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति॥

'जीव ब्राह्मण है—ऐसा नहीं हो सकता। कारण कि पहले हुए और आगे होनेवाले अनेक शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है। जीव एक होनेपर भी कर्मोंके कारण अनेक शरीरोंको धारण करता है, परन्तु सब शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है (इसलिये यदि जीवको ब्राह्मण मानें तो फिर सभी शरीरोंको ब्राह्मण मानना पड़ेगा)।'

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद्ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः

**शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसम्भवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति।**

'तो क्या देह ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। चाण्डालसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सबके शरीर पाञ्चभौतिक होनेसे एकरूप ही हैं। जरा-मृत्यु, धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) आदि भी सबके समान ही देखे जाते हैं। ब्राह्मणका श्वेतवर्ण, क्षत्रियका लाल वर्ण, वैश्यका पीला वर्ण और शूद्रका काला वर्ण होता है—ऐसा नियम भी नहीं है। यदि देहको ब्राह्मण मानें तो पिता आदिके मृत शरीरको जलानेसे पुत्र आदिको ब्रह्महत्या आदि पाप लगनेकी सम्भावना रहती है। अतः देह ब्राह्मण नहीं है।'

**तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तर-**

जन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्, शशपृष्ठाद् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। ऐतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति॥

'तो क्या जाति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। विभिन्न जातिवाले प्राणियोंसे अनेक जातिवाले बहुत-से महर्षि उत्पन्न हुए हैं; जैसे—मृगीसे ऋष्यशृंग, कुशसे कौशिक, जम्बूक (सियार) से जाम्बूक, वल्मीकसे वाल्मीकि, मल्लाहकी कन्यासे व्यास, शशपृष्ठ-(खरगोशकी पीठ) से गौतम, उर्वशीसे वसिष्ठ, कलश-(घट) से अगस्त्य उत्पन्न हुए—ऐसा सुना जाता है। इनमें जातिके बिना भी पहले बहुत-से पूर्ण ज्ञानवान्

ऋषि हुए हैं। अतः जाति ब्राह्मण नहीं है।'

**तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति॥**

'तो क्या ज्ञान ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बहुत-से (जनक, अश्वपति आदि) क्षत्रिय आदि भी परमार्थको जाननेवाले तत्त्वज्ञ हुए हैं। अतः ज्ञान ब्राह्मण नहीं है।'

**तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसञ्चितागामिकर्मसाधर्म्य-दर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति॥**

'तो क्या कर्म ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण प्राणियोंमें प्रारब्ध, संचित तथा क्रियमाण कर्मोंमें सधर्मता देखी जाती है और कर्मोंसे प्रेरित होकर वे मनुष्य

क्रिया करते हैं। अतः कर्म ब्राह्मण नहीं है।'

**तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति॥**

'तो क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बहुत-से क्षत्रिय आदि भी स्वर्णका दान करनेवाले हुए हैं। अतः धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है।'

**तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षड्डूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नभाव-**

**मात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एवं ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव।**

'तो फिर ब्राह्मण नाम किसका है? जो कोई अद्वितीय आत्मा जाति, गुण तथा क्रियासे रहित है, छः ऊर्मियों तथा छः विकारों* आदि समस्त दोषोंसे रहित है, सत्-चित्-आनन्द तथा अनन्तस्वरूप है, स्वयं निर्विकल्प है, अनन्त कल्पोंका आधार है, अनन्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहनेवाला है, सदा वर्तमान (नित्य रहनेवाला) है, आकाशकी तरह सबके भीतर-बाहर परिपूर्ण है, अखण्ड आनन्द

---

* भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म तथा मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं। उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना—ये छः विकार हैं।

स्वभाववाला है, अप्रमेय है अर्थात् इन्द्रियों और अन्त:करणका विषय नहीं है, केवल अनुभवसे जाननेयोग्य है तथा अपरोक्षरूपसे प्रकाशित होनेवाला है, उस परमात्मतत्त्वका हस्तामलककी तरह साक्षात्कार करके जो कृतकृत्य (ज्ञातज्ञातव्य, प्राप्तप्राप्तव्य) हो गया है और जो काम, राग आदि दोषोंसे रहित है; शम, दम आदिसे सम्पन्न भाववाला है; मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदिसे रहित है; और जिसका चित्त दम्भ, अहंकार आदि दोषोंसे निर्लिप्त है, वही वास्तविक ब्राह्मण है—ऐसा श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहासका अभिप्राय है। इसके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारसे ब्राह्मणत्वकी सिद्धि नहीं होती।

**सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्॥**

'आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है (उसका साक्षात्कार करनेवाले ब्राह्मण हैं)—ऐसा मानना चाहिये। आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म मानना चाहिये। यह उपनिषद् है।'

**॥ वज्रसूचिकोपनिषद् समाप्त॥**

शान्तिपाठ

**'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥**

**ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

(२)

मनुष्यमात्र परमात्मप्राप्तिका समानरूपसे अधिकारी है; क्योंकि मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि कोई क्यों न हो, मात्र मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता केवल परमात्मप्राप्तिकी उत्कट लालसाकी है। परन्तु जबतक सत्संग नहीं मिलता अथवा कोई आफत नहीं आती, तबतक मनुष्य मानो 'बेहोशीमें रहता है! उसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी लालसा जाग्रत् नहीं होती! ऐसे भी कई लोग हैं, जो यह मानते हैं कि शास्त्रोंका अध्ययन करना, पारमार्थिक पुस्तकें पढ़ना, पूजा-पाठ करना, साधन भजन करना तो ब्राह्मणोंका अथवा

साधुओंका काम है, हमारा काम नहीं है! ऐसे लोग परमात्मप्राप्तिके अधिकारी होते हुए भी परमात्माकी प्राप्तिको, उसकी आवश्यकताको नहीं समझ पाते।

परमात्माका सम्बन्ध जीवमात्रके साथ समान है। सभी जीव परमात्माके अंश हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी परमात्माके अंश हैं, पर उनमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता, अधिकार, सामर्थ्य और स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु मनुष्यशरीरमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता भी है, अधिकार भी है, सामर्थ्य भी है और स्वतन्त्रता भी है; क्योंकि मनुष्य बननेका उद्देश्य भी यही है। इसलिये जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी लालसा है, वह चाहे पापी-से-पापी हो या पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा, निम्न-से-निम्न हो या ऊँच-से-ऊँच, वह परमात्मप्राप्तिका अधिकारी हो जायगा!

अत: परमात्मप्राप्तिके विषयमें कभी किसीको निराश नहीं होना चाहिये। परन्तु कोई परमात्माकी प्राप्ति चाहे ही नहीं, उसको परमात्मा कैसे मिलेंगे? जो चाहता है, उसीको परमात्मा मिलते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११) जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'

एक मार्मिक बात है कि परमात्माकी प्राप्ति ब्राह्मणको नहीं होती, क्षत्रियको नहीं होती, वैश्यको नहीं होती, शूद्रको नहीं होती, ब्रह्मचारीको नहीं होती, गृहस्थको नहीं होती, साधुको नहीं होती, वानप्रस्थको नहीं होती, भाइयोंको नहीं होती, बहनोंको नहीं होती, पापीको नहीं होती, पुण्यात्माको नहीं होती! तो फिर किसको होती है? 'साधक' को होती है। तात्पर्य है कि जो

केवल परमात्मप्राप्तिकी इच्छा रखते हैं, उनको ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। वर्ण, आश्रम, योग्यता, पद, अधिकार आदिका सम्बन्ध असत्‌का सम्बन्ध है। असत्‌का सम्बन्ध रखते हुए सत्‌की प्राप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। इसलिये ब्राह्मण होनेके नाते अथवा साधु होनेके नाते कोई परमात्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाय—यह बात है ही नहीं। जिसके भीतर ब्राह्मणपनेका, साधुपनेका अभिमान नहीं है और जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी जोरदार लालसा है, वही परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी अनन्य अभिलाषा नहीं है, वह ब्राह्मण अथवा साधु ही क्यों न हो, उसको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। अपने वर्णका अभिमान होनेके कारण ही अपनेमें बड़प्पन अथवा छोटापन दीखता है कि मैं तो ब्राह्मण हूँ

अथवा मैं तो शूद्र हूँ! इसलिये परमात्मप्राप्तिके विषयमें अपनेको बड़ा मानना भी बाधक है और छोटा मानना भी बाधक है। साधकमें छोटे-बड़ेका अभिमान नहीं होना चाहिये, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिकी भूख होनी चाहिये। भोजन वही करता है, जो भूखा हो, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र। ऐसे ही भगवत्प्राप्ति उसीको होती है, जिसमें जोरदार लालसा है।

शरीरसे संसारका काम अथवा सेवा तो हो सकती है, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्माकी प्राप्ति तो अपने-आपसे ही होती है और अपने-आपको ही होती है। शरीरकी प्रधानता व्यवहारमें है, परमार्थमें नहीं। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण सांसारिक व्यवहारके विषयमें हैं, परमात्मप्राप्तिके विषयमें नहीं। ब्राह्मण ब्राह्मणके

साथ, क्षत्रिय क्षत्रियके साथ, वैश्य वैश्यके साथ और शूद्र शूद्रके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार करे तथा अपने वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्मका आचरण करे—इस विषयमें चारों वर्ण हैं। परन्तु परमात्मप्राप्तिमें ये वर्ण काम नहीं आते। परमात्मप्राप्तिके लिये तो 'मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ'-इस अहंताको ही मिटाना होगा और अनन्यभावसे 'मैं साधक (योगी, मुमुक्षु या भक्त) हूँ'—इसको स्वीकार करना होगा। अहंताको मिटाना क्या है? मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न साधु हूँ, न वानप्रस्थ हूँ, प्रत्युत मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ।*

---

* नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

तात्पर्य है कि हमारी अहंताका सम्बन्ध भगवानके साथ होना चाहिये, वर्ण-आश्रम आदिके साथ नहीं, जिसके भीतर वर्ण-आश्रम आदिकी मुख्यता है और भगवत्सम्बन्धकी गौणता है, उसको परमात्मप्राप्ति नहीं होती। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति तब होगी, जब हमारी अहंताका सम्बन्ध परमात्माके साथ होगा कि 'मैं तो भगवान्‌का ही हूँ'*। जैसे, पहले स्त्रीमें यह अहंता होती है कि 'मैं कुँआरी हूँ', पर विवाह होनेपर यह अहंता बदल जाती है और 'मैं सुहागन हूँ'—यह अहंता दृढ़ हो जाती है। इतनी दृढ़ हो जाती है कि अगर उसका

* अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
(मानस, अरण्य० ११। ११)

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
(मानस, किष्किंधा० ३)

पति मर भी जाय तो भी उसमें 'मैं कुँआरी हूँ'—यह अहंता पुन: नहीं होती! वह विधवा तो हो जाती है, पर कुँआरी नहीं होती। ऐसे ही साधकमें 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ' आदि कोई भी अहंता नहीं रहती, और 'मैं परमात्माका हूँ'—यह अहंता दृढ़ हो जाती है। मैं परमात्माका हूँ—यह भाव दृढ़ होनेपर परमात्मप्राप्तिकी तत्परता, लगन, उत्कट लालसा स्वत: जाग्रत् हो जाती है। इसलिये जो परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं, वे अपनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष आदिका अभिमान न करें, प्रत्युत 'मैं तो भगवान्‌का हूँ'—ऐसा मानें। परमात्मप्राप्ति स्वयंको होती है, स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरको नहीं। शरीर चाहे ब्राह्मणका हो, चाहे अन्त्यजका हो, उससे तो सम्बन्ध-विच्छेद करना है।

मनुष्यमात्रका परमात्माके साथ अकाट्य सम्बन्ध है। मनुष्य चाहे स्वर्गमें जाय, चाहे नरकोंमें जाय, किसी भी योनिमें जाय, उसका परमात्मासे सम्बन्ध कभी टूटा नहीं, टूटेगा नहीं, टूट सकता नहीं। भगवान्‌का अंश भगवान्‌से अलग हो ही कैसे सकता है? परन्तु असत्‌के साथ सम्बन्ध मान लेनेसे वह भगवान्‌का सम्बन्ध भूल गया। अगर वह अपना सम्बन्ध केवल भगवान्‌से मान ले और अनन्यभावसे उनको पानेकी इच्छा करे तो उसको भगवत्प्राप्ति हो जायगी। जो भगवान्‌को नहीं चाहता, उसको ऊँचा पद मिल जायगा, तत्त्वज्ञान मिल जायगा, सिद्धियाँ मिल जायँगी, पर भगवान् और उनका प्रेम नहीं मिलेगा। परन्तु जो केवल भगवान्‌को ही चाहता है, वह अगर बिलकुल अनपढ़ और गँवार हो,

भेड़-बकरी चरानेवाला हो, निम्न वर्णका हो, निम्न जातिका हो तो भी उसको भगवान् मिल जायँगे। कारण कि भगवान्के ही अंश होनेके नाते सब-के-सब मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं।

'मनुष्य' नाम उसीका है, जो परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकारी हो! इसलिये सब-के-सब मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति शरीरके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। इसलिये भीतरमें परमात्माकी चाहना होनी चाहिये, बाहरसे शरीर कैसा ही हो, चाहे स्त्रीका शरीर हो, चाहे पुरुषका शरीर हो, चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे चमारका शरीर हो। कारण कि ऊपरका चोला तो बदलनेवाला है, पर भीतरका

स्वरूप बदलनेवाला नहीं है। बदलनेवालेका सम्बन्ध बदलनेवाले-(संसार) के साथ है और न बदलनेवालेका सम्बन्ध न बदलनेवाले-(परमात्मा) के साथ है। न बदलनेवालेके साथ बदलनेवालेका सम्बन्ध नहीं है और बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये 'मेरेमें योग्यता कम है, मेरे पुण्य कम हैं, मैं स्वस्थ नहीं हूँ, मैं विद्वान् नहीं हूँ, मेरे आचरण अच्छे नहीं हैं' आदि बातोंको लेकर किसीको परमात्माकी प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। अच्छे-बुरे आचरण तो पीछे हैं, पर परमात्माका अंश पहले है। शरीर पीछे है, परमात्माका अंश पहले है।

मनुष्यमात्रका भगवान्के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। उसमें किसी माध्यमकी जरूरत

नहीं है। भगवान्ने किसी एक वर्ण, आश्रम आदिके मनुष्यको अपना अंश नहीं बताया है, प्रत्युत जीवमात्रको अपना अंश बताया है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये सब-के-सब मनुष्य परमात्मप्राप्तिके पूरे-के-पूरे अधिकारी हैं। जैसे, किसी माँके दस बालक हों तो बालकोंके लिये माँके दस हिस्से नहीं होते। दसों बालकोंके लिये माँ पूरी-की-पूरी है। एक-एक बालक पूरी माँको अपनी मान सकता है। कोई बालक ऐसा नहीं कहता कि माँका दसवाँ हिस्सा मेरा है अथवा इतनी माँ तो मेरी है, इतनी माँ तेरी है। ऐसे ही भगवान्के भी हिस्से नहीं होते। भगवान्के सब-के-सब अंश पूरे भगवान्की प्राप्तिके अधिकारी हैं। एक-एक मनुष्यके लिये भगवान् पूरे-के-पूरे हैं!

माँ किसी कारणको लेकर बालककी नहीं होती। क्या अनपढ़ और मूर्खकी माँ नहीं होती? क्या बीमारकी माँ नहीं होती? क्या माँ केवल पढ़े-लिखे और स्वस्थकी ही होती है? माँपर सब बालकोंका समान हक होता है, पर वह किसी योग्यता, पद, अधिकार, विद्या आदिके नाते नहीं होता, प्रत्युत माँके नाते होता है कि 'मेरी माँ है'! इसी तरह भगवान् हमारे हैं। छोटा हो या बड़ा हो, अच्छा हो या मन्दा हो, दुराचारी हो या सदाचारी हो, ऊँचा हो या नीचा हो, समझदार हो या बेसमझ हो, भगवान् सबके हैं। माँमें तो पक्षपात हो सकता है, पर भगवान्‌में पक्षपात होना सम्भव ही नहीं है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता

९। २९), *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० २६। २)। इसलिये हम कैसे ही हों, भगवत्प्राप्तिसे हमें कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है।